Journal of Advance Research in Science and Social Science (JARSSC)
Official Publication of Indian Mental Health & Research Centre

ISSN: 2582-2004
Volume 01, Issue 01

DOI: 10.46523/jarssc.01.01.25
Multidisciplinary, Open Access
Impact Factor: 2.13

प्राचीन भारतीय न्याय प्रणाली

डॉ0 धर्मेन्द्र कुमार तिवारी
प्रवक्ता (प्राचीन इतिहास)
राजीव गांधी महाविद्यालय, जगदीशपुर– अमेठी (उ0प्र0)
E-mail : dktiwari143lko@gmail.com

निष्पक्ष न्याय व्यवस्था किसी भी शासन–प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'वरुण' देवता की स्थिति सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में रही होगी। प्रतीत होता है कि उन्हें दुष्टात्माओं को दंडित करने या क्षमा करने का अधिकार प्राप्त था। वैदिक युग की मान्यता थी कि राजा द्वारा निष्पक्ष न्याय का पालन वरुण देवता की कृपा से ही सम्भव है। यद्यपि वैदिक साहित्य में वर्तमान अदालतों जैसी किसी व्यवस्था का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता, लेकिन भूमि, ऋण, धोखा, चोरी, आक्रमण या हत्या जैसे अपराधों का उल्लेख मिलता है। साथ ही इन अपराधों में दण्ड व्यवस्था का भी निर्देश किया गया है। डॉ0 ए0 एस0 अल्तेकर के अनुसार– ''वेदोत्तर काल में राजा प्रधान न्यायाधीश का काम करता था, इसलिए चाहें तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वैदिक काल में वैसी ही परिस्थिति होगी, किन्तु इस अनुमान के लिए कुछ भी प्रमाण नहीं हैं।''[1]

ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'राजा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द मित्र एवं वरुण ऋग्वेद (7/64/2, 1/24/12 एवं 13 तथा 10/173/5) नामक देवों के लिए प्रयोग किया गया है।[2] कामन्दक (5/82–83) ने स्पष्ट किया है कि प्रजा को राजा के बड़े कर्मचारियों, चोरों, शत्रुओं, राजवल्लभों (रानी एवं राजकुमारों) एवं स्वयं राजा के लोभ से बचाना होता है। वास्तव में ये प्रजा के पांच भय हैं।[3] इससे प्रतीत होता है कि वैदिक युग में सम्भवतः राजा ही न्यायाधीश के रूप में अपराधियों को दण्डित कर प्रजा रक्षण का कार्य करता रहा होगा। ऋग्वेद (7/104/15)में 'मध्यमसी' शब्द का उल्लेख मिलता है, सम्भव है यह वादी एवं प्रतिवादी के बीच मध्यस्थता का कार्य करने वाला मध्यमशी हो।[4] अल्तेकर का मानना है कि जब वादी–प्रतिवादी के मध्य समझौता करना सम्भव नहीं होता था तो यह कार्य ग्रामसभा द्वारा किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का इसमें कुछ हाथ नहीं होता था।

उत्तर वैदिक साहित्य में न्याय के सम्बन्ध में दैवीय विश्वासों पर बल होना प्रतीत होता है। पंचविश (ताण्ड्य) ब्राम्हण (14/6/6) में वत्स की कथा दी गई है। वत्स की विमाता ने उसे शूद्रा से

Received: 21.05.2018 **Accepted:** 06.07.2018 **Published**: 06.07.2018

This work is licensed and distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0), which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any Medium, provided the original work is properly cited.

Journal of Advance Research in Science and Social Science (JARSSC) **ISSN:** 2582-2004
Official Publication of Indian Mental Health & Research Centre Volume 01, Issue 01

DOI: 10.46523/jarssc.01.01.25
Multidisciplinary, Open Access
Impact Factor: 2.13

उत्पन्न कहा, वत्स ने इसका विरोध कर कहा कि वह ब्राम्हण है। वह अपने कथन की पुष्टि के लिए अग्नि में कूद पड़ा और बिना जले निकल आया। मनु (8/116) ने भी इस कथा की चर्चा की है। सम्भवतः संस्कृत साहित्य में दिव्य विश्वास का यह प्राचीनतम उदाहरण है। छान्दोग्योपनिषद (6/16/1) में भी गर्म कुल्हाड़ी पकड़े जाने की चर्चा है, जो दिव्य सम्बन्धी दूसरा प्राचीन उदाहरण है।[5] इस प्रकार के दण्ड विधान विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी प्रचलित थे। मेसोपोटामिया (वर्तमान इराक) में अभियोगी को दजला एवं फरात नदियों के तटों पर खड़ा करके उन्हें बलपूर्वक धकेल दिया जाता था। यदि नदी में डूबकर मृत्यु हो गई तो अपराध किया था और बच जाना निरपराधी होने का प्रमाण था।[6] कुछ विद्वानों का मानना है कि वैदिक न्यायाधीश को 'प्रश्नविवाक' कहते थे। धर्मसूत्रों में न्यायाधीश के लिए 'प्राड्विवाक' शब्द का उल्लेख मिलता है। प्राड् का शाब्दिक अर्थ 'प्रश्नकर्ता' है। 'विवाक' वह है जो सत्य, असत्य को खोज निकालता है, अर्थात प्रश्नों के माध्यम से सत्य एवं असत्य का अन्वेषी प्राड्विवाक अर्थात न्यायाधीश है।[7] 'प्राड्विवाक' अतिप्राचीन नाम है (गौतम 13/26,27 एवं 31, नारद 1/35, वृहस्पति)। 'प्रश्नविवाक' शब्द वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राम्हण में आया है।[8] अर्थशास्त्र एवं धर्मसूत्रों में ही पूर्ण विकसित न्याय प्रणाली का चित्र हमें मिलता है। इसका विकास बीच के काल में कैसे हुआ, इसका ज्ञान हमें नहीं है। इस समय न्यायालयों का मुख्याधिपति राजा था और वह स्वयं प्रतिदिन न्यायिक कार्य करता था, यदि इस कर्तव्य का पालन उससे न हो तो उसे नरकवास का दुःख भोगना पड़ता था।[9]

प्राचीन भारतीय विचारकों ने न्याय के लिए विधि, दण्ड और व्यवहार आदि शब्दों का उल्लेख किया है। विधि वे नियम माने जा सकते हैं जिनका पालन अनिवार्य हो तथा जिनका उल्लंघन किसी न किसी रूप में दण्डनीय हो।[10] गौतम (9/281) ने दण्ड शब्द को 'दम्' धातु से निकाला है, जिसका अर्थ होता है रोकना या निवारण करना। समाज रक्षा तथा समाज सुख की स्थापना ही दण्ड का उद्देश्य था। महाभारत के शान्तिपर्व (15/5–6) और मत्स्य पुराण (275/16–17) में उल्लेख मिलता है कि राजदण्ड यम यातना एवं जनमत के भय से लोग पाप नही करते। मनु0 (8/129), याज्ञ0 (1/367) और वृहस्पति स्मृति में दण्ड की चार विधियां बताई गई हैं– 1.मधुर उपदेश 2. कठोर डांट 3.शारीरिक दण्ड और 4.अर्थ दण्ड। व्यवहार शब्द सूत्रों और स्मृतियों में कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जैसे, लेन–देन, झगड़ा या मुकदमा न्याय (कानूनी) सामर्थ्य और किसी विषय को तय करने का साधन। कात्यायन ने व्यवहार शब्द की दो परिभाषाएं की हैं, एक उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर और दूसरी परम्परा के आधार पर। व्यवहार शब्द को तीन भागों में बांटा गया है– वि + अव + हार। इसमें उपसर्ग 'वि' का प्रयोग 'बहुत' के अर्थ में, 'अव'

Received: 21.05.2018 **Accepted:** 06.07.2018 **Published**: 06.07.2018

This work is licensed and distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0), which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any Medium, provided the original work is properly cited.

Journal of Advance Research in Science and Social Science (JARSSC)
Official Publication of Indian Mental Health & Research Centre

ISSN: 2582-2004
Volume 01, Issue 01

DOI: 10.46523/jarssc.01.01.25
Multidisciplinary, Open Access
Impact Factor: 2.13

का 'सन्देह' के अर्थ में तथा 'हार' का 'हटाने' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अर्थात व्यवहार नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि यह बहुत से सन्देहों को हटाता या दूर करता है। यह परिभाषा न्याय प्रशासन को बहुत उच्च पद दे देती है।[11] अशोक के दिल्ली–टोपरा स्तम्भ के प्रथम अभिलेख में 'वियोहाल समता' (व्यवहार समता) तथा खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में 'व्यवहार–विधि' शब्द आए हैं।[12]

प्राचीन ग्रन्थों में न्यायालय के लिए 'धर्मासन' (शंखलिखित) या 'धर्मस्थान' (नारद 1/34, मनु0 8/23 एवं शुक्र 4/5/46) या धर्माधिकरण (कात्यायन एवं शुक्र 4/5/44) जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। कालिदास (शाकुन्तल, 5) और भवभूति (उत्तररामचरित, 1) ने अपने ग्रन्थों में न्यायालय हेतु 'धर्मासन' शब्द प्रयुक्त किया है। वृहस्पति स्मृति एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में न्यायालय के चार प्रकार थे–

1. **प्रतिष्ठित**– जो किसी पुर या ग्राम में प्रतिष्ठित हो।
2. **अप्रतिष्ठित**– जो एक स्थान पर प्रतिष्ठित न हो अर्थात विभिन्न स्थानों मेंष विभिन्न समयों में अवस्थित हो।
3. **मुद्रित**– जो राजा द्वारा नियुक्त हो और उसकी मुहर प्रयोग में ला सके।
4. **शासित या शास्त्रित**– वह न्यायालय जहां राजा स्वयं न्याय कार्य करता हो।

इन न्यायालयों के अतिरिक्त याज्ञ0(1/30), नारद(1/17) एवं मनुस्मृति (8/2) सहित मिताक्षरा आदि ग्रन्थों में अन्य न्यायालयों का भी उल्लेख मिलता है जिनका उच्च से निम्न मे ंक्रम इस प्रकार था– राजा, न्यायाधीश, गण, पूग, श्रेणी एवं कुल। राजा न्याय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। न्यायाधीश, राजा की अनुपस्थिति में न्यायिक कार्य करता था। कुछ विद्वानों का मानना है कि गण और पूग एक दूसरे के समानार्थी थे। पूग एक ही गांव में रहने वाले विभिन्न जातियों एवं विभन्न व्यवसायों को करने वालों का एक समूह था। यह अपने समूह में प्रमुख द्वारा विवादों का निपटारा करवाते थे। श्रेणी राज्य द्वारा समर्थित व्यापारिक संगठन होते थे, उन्हें अपने संगठनों में न्यायिक कार्य करने का अधिकार प्राप्त था।कुल न्यायालय में पारिवारिक विवादों को सुलझाया जाता था। बौद्ध साहित्य विनय पिटक और जातक कथाओं से भी न्याय व्यवस्था और न्यायालय के उल्लेख मिलते हैं।

मौर्य–युग में न्याय प्रणाली का विधिवत् वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है–

Received: 21.05.2018 **Accepted:** 06.07.2018 **Published**: 06.07.2018

This work is licensed and distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0), which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any Medium, provided the original work is properly cited.

Journal of Advance Research in Science and Social Science (JARSSC)
Official Publication of Indian Mental Health & Research Centre

ISSN: 2582-2004
Volume 01, Issue 01

DOI: 10.46523/jarssc.01.01.25
Multidisciplinary, Open Access
Impact Factor: 2.13

1. **कण्टकशोधन**– यह एक प्रकार का फौजदारी न्यायालय था, जहां मारपीट और हत्या आदि से सम्बन्धित विवाद निपटाए जाते थे। इसके न्यायाधीश को 'प्रदेष्टा' कहा जाता था।
2. **धर्मस्थीय**– यह दीवानी न्यायालय था, जहां भूमि आदि अन्य विवादों का निपटारा होता था। इसके न्यायाधीश को 'धर्मस्थ' कहा जाता था।

इनके अतिरिक्त राज्य के विभिन्न भागों में संग्रहण, द्रोणमुख और खार्वटिक जैसे छोटे–छोटे न्यायालय भी थे। कौटिल्य (4/9) ने इन धर्मस्थों एवं प्रदेष्टाओं द्वारा अपराधी को अर्थदण्ड एवं शरीर दण्ड देने की व्यवस्था दी है।[13] गुप्त–यगीन न्याय प्रणाली के सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में आए हुए चीनी यात्री फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण (फा–क्यो–की) में उल्लेख किया है। उसके अनुसार न्याय व्यवस्था मृदु थी। गुरुतर अपराधों के लिए सामान्यतयः अर्थदण्ड दिया जाता था। बार–बार अपराध करने या राजद्रोह पर शारीरिक दण्ड दिया जाता था। गुप्तकालीन साहित्यों से भी तत्कालीन न्यायिक कार्यों की जानकारी मिलती है।

प्राचीन भारतीय न्याय प्रणाली में वकील से सम्बन्धित निर्देश बहुत कम हैं। स्मृतियों से तो इस सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नही मिलती, किन्तु यह स्पष्ट है कि स्मृति विधानों में पारंगत लोग कचहरी में नियुक्त रहते थे और वे किसी दल के मुकदमे में पैरवी अवश्य करते रहे होंगे।[14] अल्तेकर के अनुसार– ''जब न्याय दान पद्धति का पूर्ण विकास पांचवी सदी के समय हुआ था तब कुछ धर्मशास्त्री वकीलों का काम करते थे, इसमें संदेह नही है, किन्तु वकीलों की संख्या विशेष बड़ी नही थी।''[15] शुक्रनीतिसार के अनुसार यदि वादी या प्रतिवादी धर्मनियम न जानने या अन्य कार्यों में व्यस्ततावश अपना मामला समुचित रूप से नही चला सकते थे, तब उनके लिए एक प्रतिनिधि की नियुक्ति की व्यवस्था थी। उसे 'नियोगी' कहते थे।[16]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था किसी एक संस्था या शासक द्वारा स्वीकृत न्यायिक व्यवस्था नही थी वरन् यह विभिन्न विचारकों या राजशास्त्रियों द्वारा संग्रहीत, देश के सदाचार और परम्परागत व्यवहारों द्वारा कार्यान्वित एक स्व–प्रणाली व्यवस्था थी जिसे देश के विभिन्न संगठनों को पालन करना अनिवार्य था और राजा द्वारा इनके कार्यान्वयन पर पूर्ण दृष्टि रखी जाती थी।

Received: 21.05.2018 **Accepted:** 06.07.2018 **Published**: 06.07.2018

This work is licensed and distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0), which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any Medium, provided the original work is properly cited.

Journal of Advance Research in Science and Social Science (JARSSC)
Official Publication of Indian Mental Health & Research Centre

ISSN: 2582-2004
Volume 01, Issue 01

DOI: 10.46523/jarssc.01.01.25
Multidisciplinary, Open Access
Impact Factor: 2.13

संदर्भ–ग्रन्थ

1. अल्तेकर, अनंत सदाशिव– प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, संस्करण–तृतीय, संवत् 2021, पृ0 185
2. काणे, पाण्डुरंग वामन– धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, संस्0–चतुर्थ 1992, पृ0 604
3. उपर्युक्त– पृ0 602
4. कपूर, शैलेन्द्र नाथ– प्राचीन भारतीय राजतंत्र, 1995, पृ0 29
5. अल्तेकर, अनंत सदाशिव– उपर्युक्त, पृ0 185
6. काणे, पाण्डुरंग वामन– उपर्युक्त, पृ0 747
7. कपूर, शैलेन्द्र नाथ– उपर्युक्त, पृ0 52
8. काणे, पाण्डुरंग वामन– उपर्युक्त, पृ0 719
9. अल्तेकर, अनंत सदाशिव– उपर्युक्त, पृ0 185
10. कपूर, शैलेन्द्र नाथ– उपर्युक्त, पृ0 53
11. काणे, पाण्डुरंग वामन– उपर्युक्त, पृ0 705–706
12. उपर्युक्त– पृ0 705
13. उपर्युक्त– पृ0 721
14. उपर्युक्त– पृ0 725
15. अल्तेकर, अनंत सदाशिव– उपर्युक्त, पृ0 196
16. कपूर, शैलेन्द्र नाथ– उपर्युक्त, पृ0 56–57

Received: 21.05.2018 **Accepted:** 06.07.2018 **Published**: 06.07.2018

This work is licensed and distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0), which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any Medium, provided the original work is properly cited.